Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XV, Issue No. 4, June-2018, ISSN 2230-7540

कबीर के भक्ति काव्य का आर्थिक स्वरूप

Reena Saroha[1]* Dr. Rajesh Kumar[2]

[1] Research Scholar, PhD Hindi, NIILM University, Kaithal, Haryana

[2] Research Director, NIILM University, Kaithal, Haryana

सार – ***हिन्दी भक्ति साहित्य में संत साहित्य का सुदृढ़ सूत्रपात कबीर के साहित्य से आरम्भ होता है, इसीलिए कबीर को संत साहित्य का प्रवर्तक माना जाता है। लेकिन कबीर के पहले भी संत मत का उदय हो चुका था। महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के ज्ञानेश्वर नामदेव और पंजाब के जयदेव का साहित्य इसका प्रमाण है। इनके अतिरिक्त लालदेव, संतवेणी, संत त्रिलोचन आदि कबीर पूर्व संतों की कतिपय रचनाएं प्राप्त होती हैं। "कबीर के पूर्व संतों में सबसे महत्वपूर्ण साहित्य संत नामदेव का है। नामदेव और कबीर की भक्ति में पर्याप्त साम्य भी है। लेकिन सबसे बड़ा अन्तर उनके साहित्य की अभिव्यक्ति शली है। इसीलिए नामदेव की अपेक्षा कबीर की वाणी तत्कालीन जन-मानस को झकझोरने में सफल रही है।" "कबीर का जन्म एक ऐसे युग में हुआ जबकि सारा राष्ट्र राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो रहा था।"***

---------------------------------x---------------------------------

आज के अर्थ-प्रधान समाज में आर्थिक सीमा पर कोई नियन्त्रण नहीं है। अनियंत्रित अर्थ संचयन की होड़ मनुष्य को एक मात्र भौतिक सुख-सुविधा प्रदान कर उसे बेचैन बनाए रखती है दूसरी ओर विलास-वैभव के गहने गर्त में डुबाकर उसे पाशविक भी बना देती है। कबीर इस बात को अच्छी तरह समझते थे इसलिए उन्होंने कहा था-

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम,

दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानों काम।

मानवीय जीवन में अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों में भी चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया गया है, उसमें अर्थ दूसरे स्थान पर स्थित है। यही अर्थ मानव की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का एक माध्यम है। वह साध्य नहीं है बल्कि साधन है। मानव का जीवन आरंभ से ही लोभ और लालसा में व्यतीत होता आया है और उनकी लालसा धन संचित करने की होती है। मध्यकाल से लेकर आज तक मनुष्य की यही लालसा यथावत है, न बल्कि वह अधिक बढ़ गई है।

धन-संचय की लालसा

मध्यकाल में मुसलमानों का साम्राज्य भारत देश पर था। उस समय के मुस्लिम शासक विभिन्न करों के माध्यम से धन संचित करते थे। मनुष्य भी अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए धन संचित करने के पीछे भाग-दौड़ करता था। कबीर के धन-संचय को बड़ा हेय माना है। उनके काव्य में धन संचय के प्रति व्यापक विद्रोह की भावना परिलक्षित होती है। साथ ही उन्होंने धन संचित करने वालों को मरा हुआ माना है-

'कबीर सो धन संचिये जो आगे कूं होइ।

सीस चधये पोटली ले जात न देख्या कोइ।।'[1]

उन्होंने अपने समस्त जीवन में धन के प्रति विरक्ति भाव रखते हुए, मनुष्य के सभी दुःखों का मूल कारण धन संचय की प्रवृत्ति में मानकर त्याग और अनासक्ति की भावना पर बल दिया है।

कबीर की दृष्टि में धन संचय सामाजिक आवश्यकता से ज्यादा करना अच्छी बात नहीं है। यही धन संचय की प्रवृत्ति निजी संबंधों और मनुष्य-मनुष्य के बीच दूरी पैदा करता है। अतः उनके अनुसार आवश्यकता से ज्यादा धन-संचय 'थोरे दिन का धन' है। वह धन जीवित मनुष्य संचित करता है और उसके मृत्यु के बाद वह इसी दुनिया में रह जाता है। उस संचित धन का उपयोग दूसरे लोग ही करते हैं। इसलिए आवश्यकता से ज्यादा किया गया धन संचय मनुष्य को अकर्मण्य और पंगु बना देता है।

'अंति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोई।।

www.ignited.in

कोई लै जात न देख्या, बलि बिक्रम भोज गस्ता।।

काहू कै संगि न राखी, दीसै बीरुल की साखी।।'[2]

अर्थात कबीर का कहना है कि, धन के मोह और लालसा में मनुष्य को नहीं गिरना चाहिए। हमें उतनी ही वस्तुओं का संचय करना चाहिए, जिससे पेट का पालन संभव हो।

'उदर समाता अन्नतै, तनहि समाता चीर।

अधिकाहि 'संग्रह ना करै' ताका नाम फकीर।।'[3]

उनका मानना है कि, इस संसार में थोड़े दिन स्थिर रहने वाले धन का क्या करना? इसके लिए न जाने कितने प्रयत्न जी तोड़कर करने पड़ते हैं। यदि कोई राजा अपने द्वार पर हाथी बांधकर भवन पर सौ पताकाएं फहरा दे और कृपण अपने कोष में अतुल धन जमा कर ले तो इसका किसी और को क्या लाभ? ये लोग धनाभिमान में ईश्वर को भी नहीं पहचान पाते, किन्तु जब यम उन्हें ले जाता है तो नंगे होकर खाली हाथ जाते हैं। जैसे-

'थोरे दिन कौ का धन करनां

कोटी धज साह हस्ती बंध राजा, क्रिपन को धन कौन काजा।

धन कै गरिब राम नहीं जाना, नंगा है जम पै गुदरांना।।'[4]

कबीर कहते हैं कि, मनुष्य अपनी विविध दुःखों सहित एकत्रित धन संपत्ति का आस्वाद भी नहीं कर पाता कि, मृत्यु रूपी बिलौटा आ जाता है। यह संपत्ति अनेक प्रयत्न करके गाड़ और छुपाकर रखी थी, किन्तु सच-सच बताओ इसका उपभोग आज तक कोई कर पाया है। कण-कण एकत्रित कर, यह माया संचित की है, किन्तु इस संसार से चलते समय तृण के समान इससे संबंध विच्छेद कर लिया। वे कहते हैं-

'अनेक जतन करि गाड़ी दुराई, काहू सांची काहू खाई।

तिल-तिल करि यहु माया जोरि, चलती बेर तिणा ज्यूं तोरी।।'[5]

इस प्रकार आवश्यकता से ज्यादा धन संचय को कबीर महत्व नहीं देते थे। यह उनके चिंतन का आर्थिक पहलू आज भी प्रासंगिक हैं। आज बड़े-बड़े व्यापारी धन संचय करके बाजारों में तेजी-मंदी का चक्र लाते हैं जिसमें आम आदमी का अधिक नुकसान होता है। इसलिए तो सरकार व्यापारियों के गोदामों पर कब्जा करके उनका संचित माल अपने कब्जे में लेती है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है कि, "मध्ययुग में शाही खानदान के लोग, उनके समर्थक जागीरदार और सामन्त, धार्मिक नेता, दरबारी कवि और गायक, सुंदर नर्तकियाँ तथा ऐसे और लोग जो किसी रूप में शहंशाह के जीवन को मधुमय बनाने में योग दे सकते थे, सुखी थे। उनके लिए पैसे का प्रश्न तुच्छ और नगण्य था। शेष जनता अर्थाभाव से पीड़ित थी किन्तु उनका फल भोग करने वाले मधुपुरियों में निवास करते थे। वहाँ उसकी पहुंच नहीं थी, वह अपने पूर्व जन्म के कल्पित पापों को कोसकर रह जाती थी।"[6]

इस तरह कबीर जमीन से जुड़े आदमी हैं। वे आम आदमी की दर्द के बात ही नहीं करते बल्कि उसे उस स्थिति से निकालने की भी प्रेरणा देते हैं। वे धन-दौलत और संपत्ति संचय के विरोधी रहे हैं और सभी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की वकालत करते हुए कहते हैं-

'साँई इतना दीजिए, जामे कुटुंब समाय।

मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।'[7]

आज की संस्कृति के बाजार विभिन्न प्रकार की भौतिक सुख-सुविधा प्रदान करने वाले उपकरणों से भर पड़े हैं। हर आदमी अच्छे बुरे प्रयास करके वे सभी साधन प्राप्त कर लेना चाहते हैं- भले ही 'अतिथि देवो भवः' वाली संस्कृति पुरातन समझी जाती हो, पर ऐसे कठिन समय में कबीर की उपर्युक्त पंक्तियां आपाधापी में जीने वाले आदमी को सांत्वना देती प्रतीत होती है।

आर्थिक विषमता

मध्ययुगीन समाज में जहां एक ओर तलवार की नोक पर ऐश्वर्य एवं समृद्धि के स्वच्छंद खेल खेले जा रहे थे वहीं दूसरी ओर आर्थिक विषमता के कारण मनुष्य-मनुष्य का भक्षण करने को तत्पर हो रहा था। एक ओर गगनचुम्बी भव्य भवनों में स्वर्ग की झाँकियाँ प्रस्तुत थीं, तो दूसरी ओर दरिद्रता से जर्जर सामान्य जन दयनीय अवस्था के जीवित चित्र बने हुए थे।

कबीर का काव्य अपने युग के सामाजिक, आर्थिक चिंतन की उपज है। उनके काव्य को विधिवत पढ़ने से युग की आर्थिक विषमता की भयावह स्थिति का पता चलता है। बार-बार सेठ, साहूकारों, ब्याज पर पैसे देने वाले को केन्द्र में रखकर पूरे पद में अपने युग का यथार्थ चित्रण करते हैं-

'मन रे कागद पीर पराया।

कहा भयौ व्यौपार तुम्हारे, कल तर बढ़े सवाया।।'[8]

वीरेंद्र मोहन का अभिमत है कि-

"कबीर ने आर्थिक विषमता को देखा और उससे विद्रोह किया। सच तो यह है कि, मध्यकाल में कबीर की दृष्टि सबसे पहले आर्थिक ढाँचे की ओर गई। उन्होंने देखा कि, सम्पत्ति के कारण समाज लगातार छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होता चला जा रहा है और इसी के कारण ईर्ष्या, द्वेष बढ़ रहे हैं। वास्तव में कबीर ने धन के कारण उत्पन्न होने वाले व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकारों को देखा। इसलिए वे राजाओं और अमीरों को फटकारते हैं।'[9]

कबीर तत्कालीन आर्थिक विषमता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि- "समाज में निर्धन को कोई भी आदर नहीं देता था। उसके लाख यत्नों को भी कोई हृदय में स्थान नहीं देता था। निर्धन जब धनवान के घर में जाता है, तो वह पीठ फेरकर बैठ जाता है। इसके विपरीत यदि धनवान निर्धन के पास पहुंचे तो वह सादर अन्दर बुलाता।" जैसे-

निरधन आदर कोह न देई। लाख जतन करें ओह चित्त धरेई।

जो निरधन सरधन कैं जाई। आगे बैठे पीठ फिराई।

जो सरधन निरधन कै जाई। दिया आदर लिया बुलाई।'[10]

इस प्रकार धन कमाने की मनुष्य की लालसा दिन-ब-दिन कैसी बढ़ती थी, इसकी ओर हमारा लक्ष्य केंद्रित किया है।

आर्थिक स्वावलंबन

कबीर का काव्य साधक को स्वावलंबी होकर कर्म में प्रवृत्त होने की चेतना पैदा करता है। उनका विचार है कि- "घर, परिवार और समाज के बीच कमल और पानी की तरह अनासक्त भाव से रहते हुए अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए साधना में रत देखना चाहते हैं।"[11] कबीर का चिन्तन घर, परिवार तथा अर्थात्पादन का विरोधी नहीं है, परंतु मनुष्य ने भिक्षाटन भी एक सीमा तक करना चाहिए। स्वयं कारीगिरी करना और सामाजिक दायित्वों को पूरा करना, उनकी स्वावलंबी दृष्टि का परिचायक है।

कबीर स्वयं स्वावलंबी थे। इसलिए वे दूसरों को भी यही संदेश देते हैं। उन्होंने समाज के निर्धन लोगों को हीनता के भाव से मुक्त कर उनमें आत्मविश्वास भरा है। वे शूद्र के मन में यह भाव भरते हैं कि, वह ब्राह्मण से छोटा नहीं है, वैसे ही निर्धन के मन में यह भाव भरते हैं कि, वह अपने को किसी राजा या धनपति से छोटा नहीं समझे। लेकिन वे उनसे यह अपेक्षा करते हैं कि, वह न किसी की धन-संपत्ति से ईर्ष्या करे और न किसी के सामने हाथ पसारे, क्योंकि, 'मांगन-मरन समान है।' वह ईश्वर पर भरोसा रखते हुए परिश्रम और ईमानदारी से जीवन जिए। जैसे-

'भूखा-भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग,

भांडा गढ़ि जिन मुख दिया, सोई पुरवन जोग।।'[12]

उनका कहना है कि, भक्ति के लिए लोग जोगिया बाना धारण कर अपने घर, परिवार एवं समाज से अलग-थलग होकर जंगल की शरण लें और अपनी उदरपूर्ति के लिए समाज के अन्य लोगों पर अवलम्बित रहकर उनकी अर्थव्यस्था को चटका दे, उन्हें अमान्य है। उनका कहना है कि-

'संत न बांधै गाठड़ी, पेट समाता लेइ।

सांई सूं सनमुख रहै, जहां मांगै तहा देई।।'[13]

अर्थात कबीर किसी के सामने हाथ फैलाना अपने स्वाभिमान के खिलाफ समझते हैं। यदि संत या भिखारी थोड़ा-थोड़ा मांगता है तो उसे नाना प्रकार का अन्न मिल जाता है। वे किसी साधक को यह शिक्षा नहीं देते है कि, मांगकर खाये या भूखा सोये बल्कि वे स्वयं जुलाहे का कार्य करते हैं और संतों से अपेक्षा रखते हैं कि, वे स्वयं कमायें और अपने परिवार तथा संबंधियों का भरण पोषण करें। उनका मानना है कि, धनोत्पादन घर परिवार को छोड़कर या कंजूसी से नहीं हो सकता है, बल्कि घर परिवार में रहकर ही करना चाहिए। जैसे-

'बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीर्थ व्रत न मेला।

मांगि न खाइ न भूखा सोवैं, घर अंगना फिरि आवैं।

पाँच जना की जमाति-चलायैं, तास गुरु मैं चेला।।'[14]

कबीर का मानना है कि, जीवन में मनुष्य को स्वावलम्बी होना चाहिए। इसके लिए निरंतर कर्म करने की आवश्यकता है। परंतु धन-संचयन करते समय अपने पेट को जितना धन लगता है उतना ही संचित करना चाहिए। उनका मन्तव्य है कि, संतोष रूपी धन सभी धनों से श्रेष्ठ धन है। जैसे-

'गौधन, गजधन, वाजिधन और रतन धन खान।

जब आवैं संतोष धन, सब धन धूरि समान।।'[15]

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि, कबीर का आर्थिक चिंतन निष्काम कर्म की प्रेरणा और अपरिग्रह की शिक्षा देता है। यदि आवश्यकता से ज्यादा धन संचय मानव न करे तो आर्थिक विषमता का संकट ही नहीं उठता। सभी लोग समान रहें, उनमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न रहे यही कबीर की नसीहत है। कबीर आर्थिक चिंतन से पता चलता है कि, वे कीडी से लेकर कुंजर तक का भी ध्यान रखते थे। मानव का हित तो उनके काव्य में सर्वोपरि है, जो भक्ति के माध्यम से उभरा है। कबीर ने जो धन-संचयन, आर्थिक विषमता तथा स्वालंबन की बात अपने समय में की है वह आज भी यथावत है।

संदर्भ सूची

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर वचनावली, नौवां संस्करण, दोहा-459, पृ. 46
2. संत बानी संग्रह-भाग-2, पृ. 47
3. डॉ. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रंथावली (सटीक), पद-99, पृ. 135
4. डॉ. पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली (सटीक) पद-99, पृ. 135
5. वही, पृ. 352
6. डॉ. रामचंद्र तिवारी, मध्ययुगीन काव्य साधना, पृ. 38
7. डॉ. तेजसिंह, सबद बिबेकी कबीर, पृ. 160
8. डॉ. पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली (सटीक) पदावली-108, राग गौडी, पृ. 355
9. वीरेन्द्र मोहन, कबीर और जायसी-मानवमूल्य, पृ. 28
10. डॉ. सुनील कुलकर्णी, कबीर और तुकाराम के काव्य में प्रगतिशील चेतना, पृ. 159
11. सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट 2/24, पृ. 40
12. सं. राजकिशोर, कबीर की खोज, पृ. 68
13. सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट 35/13, साखी-1,
14. वही, राग आसावरी, पद-207, पृ. 118
15. वही, पृ. 20

Corresponding Author

Reena Saroha*

Research Scholar, PhD Hindi, NIILM University, Kaithal, Haryana